Impact Factor (SJIF): 6.126 E-ISSN: 2583-1615, P-ISSN: 3049-3498

International Journal of Research in Academic World

Received: 09/May/2025 **IJRAW:** 2025; 4(6):190-194 **Accepted:** 21/June/2025

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की दृष्टि में ऋत–सिद्धान्तः एक अवलोकन

[*1]डॉ. रेखा यादव और [2]रामानन्द कुलदीप

[*1]प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान, भारत।

[2]एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान, भारत।

सारांश

ऋत वैदिक साहित्य का एक मौलिक व केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था, नैतिक अनुशासन और धर्म के मूल तत्त्व को प्रकट करने वाला सिद्धान्त है। आधुनिक प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों में प्रो॰ गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने ऋत की अवधारणा को विशेष गम्भीरता और दार्शनिक गहराई के साथ विश्लेषित किया है। प्रो॰ पाण्डेय भारतीय इतिहास, संस्कृति और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। उनके अनुसार, "ऋत न केवल प्रकृति की नियमितता का बोध कराता है, अपितु यह देवों के आचरण का भी मानक है। यह धर्म का शाश्वत स्वरूप है।" ऋत, धर्म का पूर्वगामी रूप है, धर्म की अवधारणा ऋत से ही विकसित हुई यह ब्रह्म की अभिव्यक्ति, व्यक्ति के भीतर और ब्रह्माण्ड के बाहर दोनों जगह विद्यमान है। वैदिक–देवता इसके रक्षक हैं। यज्ञ का वैदिक–विधि से सम्पादन 'ऋत' को सुदृढ़ करता है।

मुख्य शब्दः ऋत, धर्म, वैदिक देवता, यज्ञ, नैतिकता।

प्रस्तावना

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय एक प्रतिष्ठित वेदज्ञ, भारतीय विद्वान, दार्शनिक और प्रसिद्ध इतिहासकार थे। उनको विशेष रूप से वैदिक–काल और बौद्ध–काल के गहन ज्ञान के लिए विख्यात माना जाता है। उत्तर प्रदेश के काशीपुर में बसे अल्मोड़ा के पिलखा गाँव के एक सम्मानित पहाड़ी ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि समृद्ध थी। यह समृद्ध पृष्ठभूमि पाण्डेय जी के पालन–पोषण में बौद्धिक और सार्वजनिक सेवा के मूल्यों के महत्त्व को दर्शाती है, जो उनके भावी विद्वतापूर्ण जीवन की नींव रखती है।

पाण्डेय जी का अकादमिक जीवन असाधारण ढेरों उपलब्धियों से परिपूर्ण रहा। उन्होंने इतिहास, संस्कृति और दर्शन पर अपने चिन्तनात्मक शक्ति सामर्थ्य से उल्लेखनीय कार्य किया। उनको अपने लेखन कार्य व बहुविध योगदान के लिए अनेक उपाधियों से सम्मानित किया गया।

पाण्डेय जी की दार्शनिक दृष्टि भारतीय दर्शन को एक स्थिर, संग्रहालय की बजाय एक 'जीवन्त परम्परा' के रूप में देखती थी। उन्होंने भारतीय दर्शन को एशियाई एवं पश्चिमी दर्शन से अलग करने की आलोचना की। उन्होंने सांस्कृतिक आदान–प्रदान और वैश्विक संवाद के महत्त्व पर जोर दिया। उनका मानना था कि बौद्धिक परम्पराएँ विश्व–संस्कृति को समृद्ध करने में योगदान देती है। यह पाण्डेय जी की उदार, तार्किक, सूक्ष्म व बौद्धिक कार्यप्रणाली का एक तत्त्व है, जो उनके सम्पूर्ण लेखन व चिन्तन में दृष्टिगोचर होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'ऋत–सिद्धान्त' सहित किसी भी अवधारणा का उनका विश्लेषण गतिशील, तार्किक, निष्पक्ष व ऐतिहासिक रूप से प्रासंगिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण के लिए खुला है। न कि एक कठोर, पक्षपातपूर्ण हठधर्मी व्याख्या। यह 'उदात्त व जीवित परम्परा' का पाण्डेय जी का दृष्टिकोण उनकी दार्शनिक विचारों की स्थायी प्रासंगिकता और विकास पर ध्यान केन्द्रित करने का संकेत है।

भारतीय वांग्मय में वेद सबसे महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी सायण और यास्क जैसे अनेक भारतीय विद्वानों व अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने व्याख्याएँ की हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इनके द्वारा प्रस्तुत अनेक अर्थों के

***Corresponding Author:** डॉ. रेखा यादव

कारण वेदों की सही व्याख्या कठिन है। वेदों की व्याख्या में निहित चुनौतियों को देखते हुए पाण्डेय जी का कार्य आंशिकताओं को दूर कर एक अधिक एकीकृत और व्यापक समझ को प्रस्तुत करने का प्रयास है।

इस निमित्त गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी ने 'वैदिक संस्कृति' नामक ग्रन्थ की रचना की। जो एक बहुआयामी पद्धति को नियोजित करती है। ऐसा कह सकते हैं कि उनकी यह रचना वेदों के ऐतिहासिक पहलू का मूल्याँकन करती है, नए पुरातात्त्विक खोजों को शामिल करती है, और पुरानी व्याख्याओं से आगे बढ़ती है। पाण्डेय जी की रचना दृष्टि में हम पाते हैं कि इन्होंने आधुनिक पश्चिमी व्याख्याओं (जैसे मैक्समूलर) और पारम्परिक कर्मकाण्डी व्याख्याओं (जैसे सायण) पर ही खोजी दृष्टि नहीं डाली, बल्कि महर्षि दयानन्द, महर्षि अरविन्दो और मधुसूदन ओझा जैसे विचारकों की प्रतीकात्मक व्याख्याओं पर भी समीक्षात्मक दृष्टि प्रस्तुत की। जिसका उद्देश्य वेदों की मान्यताओं व सिद्धान्तों की दार्शनिक जाँच को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ समन्वित करके व्यापकता प्रदान करना है।

पाण्डेय जी का मानना है कि "आत्म–विद्या और सृष्टि–विद्या, इन दो तरह के ताने–बानों से वैदिक विचार–विज्ञान का निर्माण समझा–परखा जा सकता है। [1] उनका मानना है कि प्रारम्भिक वैदिक–युग में सृष्टि–विद्या के सूत्र प्रधान थे। इसलिए पूर्व वैदिक युग में सृष्टि की व्यवस्था के सन्दर्भ में दिया गया ऋत–सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। उन्होंने अपनी पुस्तक वैदिक–संस्कृति के विवरण में स्पष्ट रूप से कहा है कि इसमें 'ऋत–सत्यात्मक' (ऋत–सिद्धान्त) सिद्धान्तों का विश्लेषण प्रमुखता से शामिल है, जो वैदिक–संस्कृति को परिभाषित करने में सक्षम है और भारतीय सभ्यता के इतिहास में यह कैसे प्रकट हुए को भी शामिल करता है। अर्थात् उनके अनुसार 'ऋत–सिद्धान्त' केवल एक परिधीय विषय नहीं है, बल्कि उनकी रचना 'वैदिक संस्कृति' के भीतर चर्चा किया गया एक केन्द्रीय परिभाषित सिद्धान्त है। अपनी इस रचना में 'ऋत–सिद्धान्त' के ऐतिहासिक प्रकटीकरण का भी अन्वेषण किया गया है।

पाण्डेय जी का यह दार्शनिक दृष्टिकोण बताता है कि ऋत–सिद्धान्त का उनके द्वारा किया गया विश्लेषण केवल एक प्राचीन, स्थिर अवधारणा का पुरातात्त्विक उत्खनन मात्र नहीं है बल्कि एक मूलभूत वैदिक–सिद्धान्त का जीवन्त अन्वेषण है, जिसने भारतीय संस्कृति को लगातार आकार दिया है और जो आज भी कई मायनों में प्रासंगिक बना हुआ है।

ऋत की अवधारणाः ब्रह्माण्डीय व्यवस्था और प्राकृतिक नियम

ऋत–सिद्धान्त पर पाण्डेय जी की विशिष्ट व्याख्या में प्रवेश करने से पूर्व 'ऋत–सिद्धान्त' की आवश्यक पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है।

वैदिक–साहित्य में, 'ऋत' एक व्यापक और मौलिक अवधारणा है, जो ब्रह्माण्डीय व्यवस्था, सार्वभौमिक नियम और सम्पूर्ण अस्तित्व को नियन्त्रित करने वाले अन्तर्निहित सत्य को दर्शाती है। इसे सृष्टि के 'अदृश्य सन्तुलन' के रूप में वर्णित किया गया है। जो अस्तित्व की हर गति, हर परिवर्तन और हर स्थिति को एक गहरे, अकथनीय अनुशासन में बाँधता है, बिना किसी आदेश के, बिना किसी निर्णायक सत्ता के। 'ऋत' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह केवल एक नियम या व्यवस्था मात्र नहीं है, बल्कि स्वयं में गति है, स्वयं में व्यवस्था है, स्वयं में स्थिरता है और स्वयं में वह मौन छवि है जिसे सृष्टि या प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बोलती है। यह विवरण ऋत की गहन और सर्वव्यापी प्रकृति पर जोर देता है। यह केवल भौतिक नियम नहीं है, बल्कि सद्भाव और व्यवस्था का एक अन्तर्निहित सिद्धान्त है जो वास्तविकता के सभी स्तरों में अन्तर्व्याप्त है।

ऋत वह अपरिवर्तनशील नियम है जो निरन्तर परिवर्तनशील संसार को नियन्त्रित व व्यवस्थित करता है। यह सूर्य के उदय और अस्त, उषाकाल के आगमन और ऋतुओं के अनुमानित प्रतिरूप जैसी प्राकृतिक घटनाओं के नियमित प्रत्यावर्तन को नियन्त्रित करता है। इस अपरिवर्तनय नियम के कारण सूर्य और चन्द्रमा गतिशील है। यह ऋत के व्यावहारिक प्रकटीकरण को दर्शाता है, ब्रह्माण्ड की नियमितता और पूर्वानुमेयता को बनाए रखने में इसकी भूमिका अतिमहत्त्वपूर्ण है।

इस संसार में जो कुछ है, वह सब ऋत के नियम में बँधा हुआ है। 'ऋत' को सभी का 'मूल कारण' माना गया है। यहाँ तक कि देवताओं को भी ऋत से उत्पन्न, उसका पालन करने वाला या उसका प्रेमी बताया गया है। उदाहरण के लिए मरुद्गण को ऋत उद्भूत माना है, विष्णु को 'ऋत का गर्भ' [2] माना जाता है और द्यौ (आकाश) और पृथ्वी ऋत पर ही स्थित है। वरुण को 'ऋतस्य गोपा' [3] (ऋत का रक्षक या संचालक) के रूप में प्रशंसित किया गया है। यह ऋत को एक अवधारणा से परे एक सत्तामीमांसीय सिद्धान्त तक ले जाता है, यह सुझाव देता है कि यह वास्तविकता का मूल ताना–बाना है, जिससे देवता भी अपनी शक्ति और कार्य सामर्थ्य प्राप्त करते हैं।

ऋत का नैतिक और आध्यात्मिक आयाम

प्रारम्भ में ऋत भौतिक नियमों के रूप में उल्लेखित हुआ, परन्तु ऋत यहीं तक सीमित नहीं है। ऋत का अर्थ आचरण के नियमों को शामिल करते हुए विस्तारित हुआ है। कहा जा सकता है कि 'ऋत' एक नैतिक नियम का प्रतिनिधित्व करता है। वरुण देवता का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि ऋत के पालन का वह निरीक्षण करें। प्राकृतिक और नैतिक दुनिया में अव्यवस्था या असन्तुलन (वैषम्य) की अनुपस्थिति को ऋत कहा जाता है। उदाहरण के लिए, वैदिक राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह ऋत के अनुसार नैतिक नियमों का पालन करें और उसकी परम्परा का भी कभी भी उल्लंघन न करें।

यहाँ हम देखते हैं कि ऋत का विकास एक ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त से विस्तृत होते हुए मानव–व्यवहार के एक

मार्गदर्शक शक्ति तक हो गया। यह धार्मिकता और नैतिक आचरण पर वैदिक दृष्टि को रेखांकित करता है।

ऋत को अक्सर सत्य से अलग किया जाता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि यह सत्य से आन्तरिक रूप से जुड़ा हुआ है। ऋत को 'सत्य का नियम' भी कहा जाता है। सत्य को अपरिवर्तनशील, अविनाशी और शाश्वत माना गया है, जो ब्रह्म में स्थित है। ऋत वह व्यवस्था या सिद्धान्त है जो सत्य को प्रकट होने और साकार होने में सक्षम बनाता है। यह उस वास्तविकता का ढाँचा है जो परम सत्य की खोज और प्राप्ति की अनुमति देता है।

ऋत उच्च आध्यात्मिक लक्ष्यों की दिशा में कार्यों का मार्गदर्शन करता है। ऋत का अनुभव मोक्ष के मार्ग के रूप में देखा जाता है। यह ऋत के आध्यात्मिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है, इसे सीधे भारतीय दर्शन में मानव–जीवन के अन्तिम लक्ष्य–मुक्ति और आत्म–साक्षात्कार से जोड़ता है। जैसे–जैसे हिन्दू–धर्म और दर्शन वैदिक धर्म से विकसित हुआ, ऋत की धारणा भी विकसित होते हुए 'धर्म' द्वारा प्रतिस्थापित हो गई। धर्म, जिसका अर्थ 'कर्त्तव्य' या 'दायित्व' और 'प्राकृतिक नियम' है, ऋत के साथ विकसित हुआ लेकिन अन्ततः 'धर्म' तब हावी हो गया जब ऋत की पुरानी धारणा बढ़ती सामाजिक जटिलता से उत्पन्न मुद्दों का सामना नहीं कर सकी।

यहाँ हम यह पाते हैं कि दार्शनिक अवधारणाओं की ऐतिहासिक प्रगति किस प्रकार होती है, यह दर्शाता है कि ऋत ने किस प्रकार धर्म के लिए वैचारिक आधार तैयार किया। जो बाद की भारतीय परम्पराओं में धार्मिकता और कर्त्तव्य के लिए अधिक व्यापक शब्द बन गया।

ऋत की व्यापकता से सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषियों के लिए केवल अलग–अलग नियमों का एक संग्रह मात्र नहीं था, बल्कि एक भव्य, एकीकृत सिद्धान्त था जिसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड – भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक की व्यवस्था और अन्तर्सम्बन्ध को समझाया। ऋत का धर्म की ओर विस्तार वैचारिक विस्तार हैं, जहाँ ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का एक मूल विचार एक तेजी से जटिल सामाजिक और नैतिक ढाँचे के लिए तार्किक आधार प्रदान करता है।

ऋत की उपर्युक्त व्याख्या करने के बाद हमारे लिए गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के विचारों को पढ़ना रोचक होगा।

'ऋत–सिद्धान्त' गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की दृष्टि

ऋत–सिद्धान्त के सन्दर्भ में पाण्डेय जी का कार्य दार्शनिक जाँच को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ता है। ऋत सम्बन्धी उनके विचार उनकी प्रमुख रचना 'वैदिक संस्कृति' में मिलते हैं। उनकी रचना 'वैदिक संस्कृति' वेदों के ऐतिहासिक पहलू का मूल्यॉकन करती है, साथ ही नए पुरातात्त्विक खोजों को शामिल करती है, जो पुरानी भाषाई व्याख्याओं के विपरीत है। उनका व्यापक, उदार व तार्किक दार्शनिक रूख जो भारतीय दर्शन को एक 'जीवित परम्परा' के रूप में देखता है, और 'सांस्कृतिक वाणिज्य' की वकालत करता है।

पाण्डेय जी वैदिक अवधारणाओं को अलगाव में नहीं मानते, बल्कि उनको ऐतिहासिक सन्दर्भों से जोड़ते हैं, उनके कालातीत दार्शनिक निहितार्थों का भी पता लगाते हैं। ऋत पर उनकी चर्चा, उनके विचार एक संकीर्ण परिप्रेक्ष्य का पालन करने के बजाय विभिन्न विचारधाराओं की अन्तर्दृष्टि को एक साथ समन्वित रूप में प्रस्तुत करने वाले हैं।

पाण्डेय जी कहते हैं कि– "पूर्व वैदिक युग में ऋत ही सृष्टि का मूल नियामक तत्त्व था, देवता ऋत–सूत्र से जुड़ी चित्त शक्तियाँ थीं।" [4]

पाण्डेय जी के अनुसार ऋत, सत्य और देवता एक ही तत्त्व के तीन आयाम थे। बौद्धिक प्रगति व विकास के साथ–साथ परवर्ती वैदिक युग में देवताओं का स्थान ब्रह्म ने और ऋत का स्थान धर्म ने ले लिया। पाण्डेय जी ऋत से धर्म तक वैचारिक संक्रमण को बहुत तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

उनके अनुसार पूर्व वैदिक युग के विचार तत्त्व थे ऋत और देवता, पुरुष और यज्ञ। बौद्धिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपर वैदिक युग के विचार प्रत्यय परिवर्तित होते हुए– ब्रह्म, आत्मा, उपासना, ज्ञान और धर्म बन गए।

पाण्डेय जी कहते हैं कि वैदिक सृष्टि–विद्या का मूलाधार ऋत की अवधारणा ही है। 'ऋत' का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि ऋत की व्युत्पत्ति 'ऋ' धातु से मानी जा सकती, जो गत्यर्थक है। "इस प्रकार ऋत का मूल अर्थ होगा गति और गति का मार्ग, हेतु और लक्ष्य, ठीक या सही प्रकार की गति।" [5] 'ऋतमर्षन्ति सिन्धकः सत्यं वातान सूर्यो' [6] अर्थात नदियाँ ऋत से बहती हैं। सूर्य ने सत्य को फैलाया। 'सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते' [7] अर्थात्, हे आदित्यों, ऋत से चलने वाले के लिए पथ सुगम है।

ऋग्वेद के इन उदाहरणों के द्वारा पाण्डेय जी ने ऋत को औचित्य, सत्य, सही मार्ग का वाचक माना। उनका मानना है कि ऋत और सत्य जुड़े हुए हैं, यह स्थिति व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति से पूर्व अवस्था है। पाण्डेय जी ने बताया कि सृष्टि के पहले स्रष्टा के ध्यान में उसका नियामक मूलरूप ही ऋत है और सृष्ट पदार्थों के आदर्श के रूप में वही सत्य है। मित्र और वरुण ऋत के रक्षक व सत्यधर्मा हैं।

इस प्रकार पाण्डेय जी के अनुसार– "परमव्योम में अवस्थित, देश–कालातीत ऋत सृष्टि का मूल तत्त्व और नियामक है, उसका प्रतिदर्श और आदर्श है। व्यक्त जगत में नाना पदार्थ और घटनाएँ जिस एक अदृश्य महासूत्र से व्यवस्थित है, वही ऋत है।" [8]

इनके अनुसार ऋत के तीन मुख्य रूप हैं– प्रकृति के नियम, आचार–व्यवहार का नियम और अनुष्ठान का नियम। अर्थात् ऋत प्रकृति की भौतिक व्यवस्था का आधार है तो मानवीय आचरण का नियामक भी। सृष्टि की सभी वस्तुओं में सामंजस्य स्थापित करने के लिए यज्ञानुष्ठान है। तीनों मिलकर प्राकृतिक और मानवीय जगत को व्याप्त करते हुए उसे एक नियत, व्यवस्थित और सार्थक स्वरूप प्रदान करते हैं।

पाण्डेय जी के चिन्तन की विशिष्टता है कि प्राचीन

अवधारणाओं की समीक्षा आधुनिक चिन्तन की दृष्टि से भी करते हैं। उनका कहना है कि ऋत की उपर्युक्त व्याख्या आधुनिक चिन्तन के कारण–कार्य सिद्धान्त आदि के अनुकूल नहीं बैठती है। आधुनिक धारणा प्राचीन ऋत और धर्म की अवधारणाओं से संगत नहीं है। पाण्डेय जी ने सिद्ध किया कि आधुनिक चिन्तन के तीनों तत्त्व कारकता, ज्ञापकता और विधायकता ऋत में संगृहीत है। उन्होंने स्पष्ट है कि ऋत में द्रव्य, सत्ता और गति, धर्ममूलक औचित्य और कर्त्तव्यता तीनों पक्ष समाहित हैं।

उन्होंने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि ऋत का क्या प्रमाण है? और उसके ज्ञान का क्या उपयोग है? एक सामान्य उत्तर यह है कि कुछ विद्वान प्राकृतिक घटनाओं में नियत आवृत्ति देखकर इसके आधार स्वरूप 'ऋत' को स्वीकार करते हैं। हम पाते हैं कि सूर्य, चन्द्र आदि की गति, दिन–रात और ऋत–चक्र, मनुष्यों व पशुओं जन्म–मृत्यु का चक्र देखने से मानवीय कल्पना में अदृश्य महान नियम का विचार आता है।

उन्होंने कहा है कि ऋत के ज्ञान का उपयोग या ऋत की अवधारणा का इतना ही महत्त्व है कि वह ज्ञान–विज्ञान के इतिहास में नियम की अवधारणा का प्रारम्भिक स्फुरण है।

उनके अनुसार– "ऋत का मूल–प्रमाण ऋषियों का प्रातिभ–ज्ञान ही मानना चाहिए। ऋषि वेद के द्रष्टा है और वेद मूलभूत शब्द प्रमाण है।" [9]

वेदों में 'ऋत' किस रूप में विद्यमान है, इसका सूक्ष्म विश्लेषण गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने किया है। क्योंकि अधिकांश विद्वान वेद का प्रतिपाद्य विषय आत्म–विज्ञान मानते हैं न कि प्रकृति–विज्ञान। निष्कर्ष देते हुए उन्होंने कहा कि आधुनिक व्याख्याकारों के अनुसार ऋत की अवधारणा में वैज्ञानिक और नैतिक–बुद्धि के प्रारम्भिक उन्मेष का उदाहरण देखा जा सकता है। जबकि पारम्परिक मत से ऋत और सत्य को धर्म और ब्रह्म से अभिन्न समझा गया।

अनेक वेदज्ञों के मत का सहारा लेकर गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने सिद्ध किया कि वेदों में विज्ञान प्रमुखता से उपलब्ध है। इस प्रकार वेद–प्रकृति का सृष्टि–विज्ञान है। अस्तु, "ऋत विश्व का मूल नियम है, उसके आध्यात्मिक, सामाजिक, आधिभौतिक एवं आधियाज्ञिक पक्ष वेद में स्फुट अथवा रहस्यात्मक रूप से वर्णित है।" [10]

उनके अनुसार ब्रह्म और जगत, ऋत और सत्य की एकता तभी बोधगम्य हो सकती है जब इस समस्त प्रपंच जगत का नियामक मूलभूत सत् को वास्तविक रूप में देखा जाए। ऐसा इसलिए क्योंकि समस्त सृष्टि प्रपंच, नाना प्रतीयमान रूपों के नियामक की खोज करना ही तो ज्ञान–विज्ञान का उद्देश्य है। अतः ऋत जो सृष्टि का नियामक है, के ज्ञान को व्यावहारिक विज्ञान का रूप देने के लिए ऋत के सूक्ष्म ज्ञान व व्यावहारिक ज्ञान के बीच क्रियात्मक और प्रत्यक्ष सम्बद्ध ज्ञान की आवश्यकता है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय अपने मत को स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य दार्शनिकों के मत को तर्क रूप में प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान के सन्दर्भ में उन्होंने प्लेटों के मत को प्रस्तुत किया। प्लेटो ने कहा था कि– "सत्य का ज्ञान प्रत्ययात्मक तार्किक ज्ञान के परे साक्षात्कारात्मक ज्ञान है।" [11] उनके अनुसार ऐसी ही कुछ बातें ऋत के विषय में भी है। "ऋत का ज्ञान व्यावृत्यात्मक बौद्धिक ज्ञान नहीं बल्कि पारमार्थिक साक्षात्कारात्मक ज्ञान में प्रदत्त विशेष ज्ञान है।" [12] 'ऋत' ब्रह्मात्मविज्ञान का ही नामान्तर है। उन्होंने कि पराविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, सद्विद्या या ऋत–चित्त एक ही अर्थ के विभिन्न नाम हैं।

ऋत और सत्य को भी अभेद माना है। ऋत देवताओं का व्रत है और देवता ब्रह्म के नानाशक्त्यात्मक सोपाधिक रूप हैं। देवता भी ऋत के पालक हैं, सत्यधर्मा है। वेदों में देवताओं का जो स्वरूप बताया गया है कि वे शक्तिमान, जगतस्रष्टा, अजर–अमर, ज्योतिर्मय, ऐश्वर्यशाली, चेतना प्राणी मात्र के हितकारी, न्यायकारी व दयालू है। पृथक्–पृथक् होने पर भी देवता संघर्षरत नहीं है बल्कि सहयोगपूर्वक ही सृष्टि का समवेत संचालन करते हैं, यही ऋत का कार्य है परन्तु वरुण देवता ऋक्–संहिता के महान, सर्वोपरि सम्राट एवं सर्वोत्तम राजसत्ता–क्षेत्र से समन्वित व सब कर्मों एवं पाप–पुण्य का अवलोकन करने वाले हैं। इसलिए उनको ऋत का रक्षक और 'धृतव्रत', 'ऋतावन', 'ऋतस्य गोपा' कहा गया है। पाण्डेय जी ने वरुण के स्वरूप की व्याख्या कहा उनकी शक्ति अपार है, वे सर्वसाक्षी हैं और विश्व के नैतिक नियामक है। पाण्डेय जी विश्लेषण में वैदिक देवताओं के स्वरूप, शक्ति एवं अधिकार क्षेत्र का रोचक वर्णन दिखाई देता है।

इसी विश्लेषण के क्रम में 'बृहस्पति' का उल्लेख करते हुए कहा कि मंत्र के देवता है, 'ऋत' उनका रथ है, 'ऋत' उनकी प्रत्यंचा है। तात्पर्य यह है कि जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त 'ऋत' के साथ सक्रिय रहकर देव शक्तियाँ अपनी सहभागिता निभाती है। उनके अनुसार– "वैदिक दृष्टि सर्वत्र देवतत्त्व का प्रकाश देखती थी। एक अनन्त शुभ शक्ति असंख्य रूपों में सृष्टि की मूल और नियामक है।" [13]

उनका कहना है कि मनुष्य में पाई जाने वाली विवेक, श्रद्धा व तप की शक्ति सृष्टि के ऋतात्मक दिव्य विधान को पहचान कर उनका अनुसरण कर सकती है। ऐसी स्थिति में ऋतचारी मनुष्य के लिए सभी कुछ शुभ हो जाता है। देवता, ऋत एवं यज्ञ में सम्बन्ध दर्शाने के लिए पाण्डेय जी ने कहा कि– "देवतत्त्व और ऋत में सृष्टि–विज्ञान अन्तर्निहित है, यज्ञ– साधना या ऋतचर्या में वह प्रतिरूपित है और उससे ही लोकविधान नियन्त्रित होता है।" [14]

भारतीय परम्परा में विद्यमान प्रत्येक विचार मानव उन्नति और कल्याण के निमित्त था। इसी शृंखला में पाण्डेय जी ने संस्कारों की चर्चा की है। संस्कार का मूल आशय आत्मा की शुद्धि से है। मानव–जीवन के सभी कर्मों में ऋतानुकूलता का सम्पादन ही वास्तविक संस्कारिता है। संस्कार एवं यज्ञ की क्रियाएँ मनुष्य को ऋत–चक्र से जोड़ती है।

ऋत और सत्य प्रधान नैतिक आदर्श थे, देवभक्ति और यज्ञनिष्ठा प्रधान साधन थे। पाण्डेय जी ने वैदिक शील

की आधार संरचना के सन्दर्भ में बताया कि वैदिक काल के शील का आदर्श, वीरोचित और कर्मयोगात्मक था। अध्यवसाय, सत्–संकल्प एवं कर्म–साधना वैदिक नीति के मूल मंत्र थे।

वैदिक कालीन तीन ऋणों की अवधारणा के सन्दर्भ में उन्होंने स्पष्ट किया कि जन्म से मनुष्य पर ऋषियों, देवताओं और पितरों का ऋण होता है। जिनसे मुक्ति आवश्यक है। जो क्रमशः ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषि–ऋण से, यज्ञ द्वारा देव–ऋण से और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ–ऋण से मिलती है। ऋणों से उऋण होना एक नैतिक दायित्व था।

इस प्रकार पाण्डेय जी के चिन्तनात्मक विवरण से स्पष्ट होता है कि वैदिक–दृष्टि, चिन्तन या जीवन–पद्धति समस्त मानव–जीवन को ऋत–सूत्र के द्वारा देवसत्ता से जोड़कर चरितार्थ करना चाहती है। पूर्व वैदिक युग की आध्यात्मिकता वाले विवरण से यह स्पष्ट किया कि पूर्व वैदिक आध्यात्मिकता के आधारभूत ऋत और सत्य, देवता और पुरुष, यज्ञ, सृष्टि और परलोक की अवधारणाएँ रही है। जिसके सन्दर्भ में पाश्चात्य व्याख्याकारों मिथकिय कल्पना प्रस्तुत व कपोल–कल्पनापूर्ण मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूर्व वैदिक आध्यात्मिकता का आधार न तो मात्र कर्मानुष्ठान है, न पूरी कल्पना अपितु उसका आधार देवोपासना–मूलक स्वानुभूति है। जो कि अपरोक्षता का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है, क्योंकि यही वैदिक निर्णय अन्तिम है कि– "एकं सद्‌विप्रा बहुधा वदन्ति।' ऋत और सत्य ही समाज व्यवस्था के आधारभूत ढाँचे (धर्म) को प्रकाशित करते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. वैदिक संस्कृति, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृ॰ 65
2. ऋग्वेद, 1.15.4
3. वही, 7.86.4
4. वैदिक संस्कृति, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृ॰ 65
5. वही, पृ॰ 66
6. ऋग्वेद, 1.105.12
7. वही, 1.41.4
8. वैदिक संस्कृति, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृ॰ 67
9. वही, पृ॰ 68
10. वही, पृ॰ 71
11. वही, पृ॰ 72
12. वही
13. वही, पृ॰ 95
14. वही, पृ॰ 96